Impact Factor (SJIF): 6.092 E-ISSN: 2583-1615

International Journal of Research in Academic World

Received: 09/June/2023 IJRAW: 2023; 2(7):32-35 Accepted: 04/July/2023

सामाजिक विकास की द्वन्द्वात्मकता

*[1]प्रो. एन.एल. मिश्र

*[1]आचार्य एवं संकायाध्यक्ष, कला संकाय म.गां. चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय चित्रकूट, सतना, मध्य प्रदेश, भारत।

सारांश

सतत विकास, विकास की परिणामी दशा के गर्भ से उपजा एक विषय है और आज यह बहस का केन्द्रीय तत्व है अन्यथा इसे तो विकास की पूर्ववर्ती दशा के रूप में होना चाहिए था। क्योंकि यह सभी को ज्ञात है कि विकास मानव के लिए होना चाहिए जो विश्वसनीय हो, वैद्य हो, वहनीय हो और संधृत हो। कभी विकास आध्यात्मिक विचारधारा के इधर–उधर घूमा तो कभी भौतिक विचारधारा के। कभी यह, अर्थ केन्द्रित रहा तो कभी श्रम–केन्द्रित। आज जब हम 21वीं सदी में प्रवेश कर चुके हैं तो विकास सूचना–प्रौद्योगिकी के अगल–बगल घूम रहा है। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो चुकी है कि विकास किसी निश्चित नियम या दशा का नाम नहीं है और न तो यह किसी निश्चित प्रारूप का अनुसरण करता है। विकास के सन्दर्भ में जो बात सच है वह यह है कि इसे मानव के लिए होना ही पड़ेगा नहीं तो यह सतत विकास, पर्यावरण–सन्तुलन, जैसे न जाने कितने सम्प्रत्ययों को बहस करने के लिए पैदा कर देगा और हम विकास को शंका की दृष्टि से देखते ही रह जायेंगे। इसी परिप्रेक्ष्य में हम सामाजिक विकास की द्वन्द्वात्मकता को समझना चाहते हैं, जो विकास का महत्वपूर्ण अंग भी है और सतत विकास के लिए नींव भी।

मूल शब्दः द्वन्द्वात्मकता, संधृत, सतत, भूमण्डलीकरण, वर्ग–संघर्ष

प्रस्तावना

सामाजिक विकास के लिए हमें थोड़ा पीछे चलना होगा और वहाँ से शुरुआत करनी होगी जहाँ से उत्पादन पद्धति में क्रमशः प्रगति हुई है। इसमें मुख्य रूप से तीन चरण आते हैं। ये हैं–वर्ग–पूर्व समाज, वर्ग–समाज, भावी वर्ग–रहित समाज।

वर्ग–पूर्व समाज को आदिम समाज भी कहा जाता है और इस समाज में उत्पादन स्तर बहुत निम्न था। उसकी निम्नता का अन्दाजा इसी से किया जा सकता है कि समूचे समुदाय द्वारा किए गये अधिकतम प्रयास का अधिकतम भाग न्यूनतम स्तर को बनाये रखने में ही समाप्त हो जाता था। सभी श्रम करते थे, कोई किसी पर आश्रित नहीं था। अधिमूल्य के अभाव के कारण आर्थिक विषमता का प्रश्न ही नहीं था तब भी व्यक्तिगत गुणों से अर्जित प्रतिष्ठा दिखती थी इस कारण सामाजिक विषमता भी नहीं थी।

धीरे–धीरे मानवीय चेतना के क्षेत्र में विस्तार होने लगा और इस विस्तार का प्रतिफल यह हुआ कि उत्पादन तकनीक अस्तित्व में आने लगी, उत्पादकता में वृद्धि होने लगी तथा आवश्यकताओं के अतिरिक्त भी उत्पादन होने लगा। कुशलता के नये क्षितिज खुलने शुरू हो गये। कुशलता प्राप्त समूहों को अन्य समूह खाद्य–पदार्थों की पूर्ति करता था। चूँकि यह वर्ग नई–नई तकनीकों की खोज कर रहा था, इसलिए इनका समुदाय भी एक विशिष्ट समूह के रूप में उभरा और आगे चलकर यही समूह प्रबन्धक, अधिकारी अथवा मुखिया बन बैठा तथा शेष लोगों की पहचान श्रमिक के रूप में हुई। वर्ग–भेद यहीं से शुरू हुआ तथा वर्ग–विभाजन का भी यही प्रथम बिन्दु था।

वर्ग–समाज के बाद भावी वर्ग–रहित समाज की बात आती है। यह कैसे सम्भव हो सकेगा कि एक ऐसा समाज बने जो वर्ग और भेद रहित हो। जी. थामसन (1950) बताते हैं कि ''पूँजी वाद ने श्रम की उत्पादकता को इतने उच्च स्तर तक बढ़ा दिया है कि समाज का वर्गों में बँटा होना अब उत्पादक शक्तियों के आगे के विकास में अवरोधक बन रहा है। इस टकराव का एक ही समाधान है–समाजवादी क्रान्ति। पूँजीवादी राज्य को नष्ट करने के बाद, कामगारों को एक नई राज्य सत्ता की रचना करनी होगी, जो कि उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व पाने में उन्हें समर्थ बनाये। इस तरह निजी मुनाफे की पद्धति को खत्म करनी होगी। आदमी के द्वारा आदमी के

शोषण को खत्म करने पर टकराव का समाधान हो जाता है और नये साम्यवाद के लिए अर्थात भविष्य के वर्गरहित समाज के लिए वांछित दशाएँ तैयार हो जाती हैं।इस प्रकार थामसन ने वर्ग–रहित समाज के अभ्युदय की कल्पना की है।

पूँजीवाद और साम्यवाद की द्वन्द्वात्मकता की आधारशिला

हेगेल ने एक नियम दिया था, जिसका नाम था ''निषेध का निषेध''। इस नियम पर दृष्टि डालें और तीनों तरह के समाज को इसी नियम से देखें तो वर्ग पूर्व समाज का निषेध, वर्ग–समाज करता है और वर्ग–समाज का निषेध, वर्ग–रहित समाज करता है अर्थात निषेध का निषेध सिद्ध होता है। फिर यदि विचार करें कि यदि निषेध का निषेध सही है तो वर्ग–रहित समाज के निषेध के रूप में क्या वही वर्ग–पूर्व समाज ही आ जायेगा? ऐसा नहीं है।

*Corresponding Author: प्रो. एन.एल. मिश्र

वर्ग–रहित समाज का निषेध इससे भी उन्नत स्तर पर जायेगा। उस समाज की कल्पना एल.एच. मार्गन (1982) करते हैं कि ''शासन में लोकतंत्र, समाज में भाई–चारा, अधिकारों और विशेष सुविधाओ में समानता और शिक्षा में सार्वभौमिकता–ये समाज के अगले उच्चतर स्तर के पूर्व लक्षण हैं। अनुभव, बुद्धिमता तथा ज्ञान उसी दिशा में तेजी से प्रवृत्त हैं। पुरातन भद्र समाज की स्वाधीनता, समता और बंधुता की एक उच्चतर रूप में वह वापसी होगी।''

हेगेल का यह नियम आध्यात्मिक क्षेत्र से सम्बन्धित था जबकि तीनों समाज की रचना और इसके आगे के समाज की रचना का आधार शुद्ध रूप से भौतिक क्षेत्र से सम्बन्धित है क्योंकि तकनीकी ज्ञान तथा उसका निर्माण भौतिक क्षेत्र की उपलब्धि के रूप में मानी जायेगी। इसी ने वर्ग–भेद पैदा किया और इसी ने वर्ग–रहित समाज को आमंत्रित भी किया।

इस प्रकार की द्वन्द्वात्मकता का क्या यही हश्र और क्या यह समाज को रचने और विनष्ट करने का ही कार्य करती है? क्या यही विकास है? क्या समाज इसी तरह से विकासोन्मुख होगा? इन प्रश्नों की विवेचना यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

विकास पर मार्क्स ने जो मार्ग दिया अथवा विकास के लिए मार्क्सवादी मॉडल आया उसमें इस बात को प्रक्षेपित करने की पूरी कोशिश की गई कि इसी से समाज का विकास होगा। ''इस विचारधारा के अनुसार उत्पादन के सम्बन्धों के अन्तर्विरोध, समाज को ऐसे गन्तव्य की ओर ले जा रहे थे जो ऐतिहासिक रूप से आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था। पूँजीवांद और उसके अन्तर्राष्ट्रीय रूप साम्राज्य और उपनिवेशवाद में स्वयं के विनाश के बीज थे, जो वर्ग–संघर्ष को जन्म देकर क्रान्ति के माध्यम से अन्ततः सर्वहारा की सत्ता और समतावादी समाज की प्रस्थापना के साधन बनने वाले थे। क्रान्तियाँ हुईं पर उन्होंने ठीक वही मार्ग नहीं अपनाया, जिसकी कल्पना मार्क्स ने अपने ग्रन्थों में की थी। क्रान्ति को साधन नहीं, साध्य बनाने की प्रक्रिया में उसका मानवतावादी पक्ष धूमिल होता गया। सैद्धान्तिक हठवादिता के कारण अनेक ऐसी नीतियाँ बलपूर्वक अधिरोपित की गयीं, जो अपने परिणामों में जन–विरोधी सिद्ध हुई। आन्तरिक विग्रह के कारण क्रान्ति के नेताओं ने एक–दूसरे का संहार किया। साथ ही उन्होंने जनता से अनुशासन और त्याग की असम्भव अपेक्षायें कीं। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अभाव में घुटन का ऐसा पर्यावरण बना दिया, जिसमें जनता को उत्पीड़न के कई दौर भोगने पड़े। एस.सी. दुबे (1998)।''

उपरोक्त तथ्य से यह विदित होता है कि मार्क्सवाद, नये मानव और नये समाज की रचना में अग्रसर था पर इसका दुःखद पक्ष यह रहा है कि ये युगस्रष्टा, स्वप्नद्रष्टा स्वतः सुविधा–भोग की तरफ उन्मुख हो गये और अपने प्रतिरूप की नईं–नई व्याख्या करते रहे। समाज की आन्तरिक विकृति पर परदा डालने की कोशिश की गई परन्तुवह छिप नहीं सकी और सच्चाई सामने आती रही। इस सन्दर्भ में पुनः प्रो. दुबे लिखते हैं कि ''क्रान्तियों के महानायकों पर इतिहास ने अभी तक अपना निर्णायक अभिमत नहीं दिया, पर अन्ततः न तो उन्हें खलनायकों के रूप में स्मरण किया जायेगा, न विराट पुरुषों के रूप में। उनका लक्ष्य महान था, किन्तु उसके कार्यान्वयन से रचना कौशल में अनेक विसंगतियाँ थीं। सभ्यता की पुनर्रचना का यह प्रयोग निःसन्देह महत्वपूर्ण था, किन्तु अहंकार, स्वार्थ और सत्तामोह ने उसे विफल कर दिया। यदि नई व्यवस्था सामाजिक न्याय न दे सकी तो क्रान्ति का मार्ग फिर अपनाया जायेगा। सम्भव है यह क्रान्ति दीर्घकालिक अराजक हिंसा का रूप ले और यह भी सम्भव है कि पुरानी भूलों की पृष्ठभूमि में उनसे सबक लेकर सामाजिक न्याय पर आधारित मानव केन्द्रित विकास का मार्ग प्रशस्त किया जाये।''

यदि मार्क्सवाद का रास्ता क्रान्ति ही है तो सोवियत संघ के विघटन के बाद यह बात स्पष्ट हो जाती है अथवा पूर्वी यूरोप के देशों को देखकर समझना चाहिए कि यह क्रान्तिकारी विकल्प किस प्रकार अप्रासंगिक हो गया। साम्यवाद को वहाँ किस नजर से देखा जाने लगा। खुले बाजार का आकर्षण उनको भी वंचित नहीं रहने दिया। इसने उन्हें भी अपने तरफ खींच लिया। इन देशों में उसका स्वागत इस प्रकार किया गया जैसे लगता हो कि कब से वे इस प्रवंचना से निकलने की बाट खोज रहे हो। इस उत्साह ने इतना प्रेरित और अंधा बना दिया कि उन लोगों ने मार्क्स और लेनिन की मूर्तियों को घृणा की दृष्टि से देखना शुरू कर दिया तथा कुछ ने तो उनकी मूर्तियों को भी तोड़ दिया। ऐसा सम्भवतः इसलिए हुआ कि निषेध का निषेध नियम हेगेलीय दृष्टिकोण से भिन्न (आध्यात्मिक दृष्टिकोण) भौतिकवादी दृष्टिकोण से ओत–प्रोत था और मार्क्सवाद में आध्यात्म का कोई स्थान नहीं है। भौतिक वस्तुओं से बने ढाँचे का हश्र टूटना ही है, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

द्वन्द्वात्मकता के बीच से जो कमियाँ निकलीं उनमें उत्पादन की मन्द गति, निरंकुश राजतंत्र द्वारा मानवाधिकारों की उपेक्षा, धर्म एवं आस्थाओं की अवमानना प्रमुख थीं। कमियों के उजागर होने के फलस्वरूप साम्यवादी राष्टों ने भी भूमण्डलीकरण के तरफ अपने दरवाजे खोल दिए। इससे लक्ष्यों में विभिन्न परिवर्तन होने शुरू हो गये। आर्थिक विकास का लक्ष्य सर्वोपरि हो गया, विकास के सामाजिक एवं मानवीय पक्ष पृष्ठभूमि में चले गये। इस पर टिप्पणी करते हुए प्रो. दुबे कहते हैं–

''समृद्धि के इन्द्रधनुषी स्वप्न अपनी जगह हैं, पर उन तक पहुँच पाने के लिए मानव जाति को सम्भवतः लम्बे समय तक अनिश्चय की घाटियों में भटकना पड़ा। सम्भावनाओं को यर्थाथ में परिवर्तित करने के लिए अपेक्षित संकल्प–शक्ति के अभाव ने विकास के लक्ष्यों और साधनों, दोनों को विवादों के घेरे में खड़ा कर दिया है। कुछ अजीब सा आज का परिदृश्य–आशाएँ हैं, पर उनके साथ आशंकाएँ जुड़ी हैं, सुचिन्तित और भविष्यदर्शी कार्य योजनाएँ हैं, पर आर्थिक और राजनीतिक समर्थ के बिना उनके कार्यान्वयन का सुदृढ़ आधार नहीं है, विभाजित मानसिकता उन पक्षों को प्राथमिकता देती है जिनमें तात्कालिक लाभ की स्पष्ट संभावना होती है समाज की पुर्रचना के विराट स्वप्न मौखिक स्वीकृति के साथ सुदूर भविष्य में कभी क्रियान्वयन के लिए लंबित रखे जाते हैं''

विकास की द्वन्द्वात्मकता

इस संदर्भ में थामसन की टिप्पणी को समझना आवश्यक है–''मेसोपोटामिया के सबसे कम वेतन पाने वाले कामगार किसी भी नवपाषाण कालीन गाँव के स्वतन्त्र और समतापूर्ण सदस्य से अधिक बेहतर दशा में थे। शहरी क्रान्ति ने जीवन स्तर में एक परम उत्कर्ष ला दिया था। दूसरी ओर यदि हम श्रम की उत्पादकता में प्रभूत उत्कर्ष का हिसाब करें तो स्पष्ट हो जाता है कि सापेक्ष अर्थ मेंउनकी हालत बदत्तर थी। क्रान्ति के लाभ बहुत विषम रूप में वितरित हुये थे। इसके कारण ही नई अर्थव्यवस्था का प्रसार अन्ततः एक जगह आकर रुक गया।''

प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता गोर्डन चाइल्ड (1951) ने विकास की गति का विश्लेषण किया और इसके विभेद को वर्गभेद से जोड़ने का साहसिक कार्य किया। उन्हीं के शब्दों में ''शहरी क्रान्ति के पहले अपेक्षाकृत गरीब और निरक्षर समुदायों ने मानवीय प्रगति में बहुत ही प्रभावपूर्ण योगदान किये थे, जो ईसापूर्व 3000 के तुरंत पहले दो सहस्राब्दियों में सम्पन्न हुई थी। इस समय जो आविष्कार हुये थे, उनमें कृत्रिम सिंचाई, सौर–पंचाग, लेखन, अंकगणना और काँसे की खोज प्रमुख थे। यह प्रारंभिक चरण था। इसके दो हजार वर्ष बाद अर्थात् ईसा पूर्व 2000 से 600 तक जो क्रात्तिकारी आविष्कारी हुए थे, उनमें चार उल्लेखनीय योगदान कहे जा सकते हैं–बेबीलोनिया की दशमलव अंक पद्धति, औद्योगिक पैमाने पर लौह खनिज को पिघलाने का कम–खर्चीला तरीका, एक सही अर्थों में वर्णमाला वाली लिपि, और शहर को पानी की आपूर्ति करने वाली प्रणाली।''

इस अवरोध की दो व्याख्याएँ और प्रस्तुत की जा रही हैं जिससे विकास द्वन्द्वात्मकता को अधिक सरल तरीके से समझा जा सके। इसमें से प्रथम व्याख्या डी.पी. चट्टोपाध्याय (1992) की है। उनका मानना है कि–''क्रान्ति केवल अतिरिक्त उत्पादक की मानवीय क्षमता के द्वारा नहीं हुई, बल्कि इस उत्पादन के उन केन्द्रों तक ले जाये जाने के द्वारा भी हुई थी जो शहरों में विकसित हुए और जहाँ

देवताओं की छत्रछाया में यानि देवताओं के दुनियावी प्रतिनिधियों–पुरोहितों और पुरोहिती संगठनों की छत्र–छाया में अधिशेष संग्रहीत हुआ।''

दूसरी महत्वपूर्ण व्याख्या गोर्डन चाइल्ड (1951) की है। उनके अनुसार ''ऐसा लगता है कि अपने जीवन के आरम्भ से ही मनुष्य ने अपनी विशिष्ट मानवीय क्षमताओं का उपयोग यथार्थ विश्व में प्रयोग के लिए आवश्यक औजार बनाने के लिए तो किया ही, साथ ही काल्पनिक प्राकृतिक शक्तियों की कल्पना करने के लिए भी किया जिनका उपयोग वह यथार्थ विश्व पर करता। तात्पर्य यह है कि वह एक तरफ तो प्राकृतिक प्रक्रिया को समझने और उसका उपयोग करने की कोशिश कर रहा था और साथ ही दूसरी तरफ इस प्राकृतिक विश्व में काल्पनिक सत्ताओं को भी आबाद कर रहा था, जिनको उसने अपनी रूपरेखा के अनुरूप गढ़े थे और जिनको वह बल प्रयोग या प्रलोभन के लिए उपयोग कर सकता था। इस तरह वह विज्ञान और अंधविश्वास की संरचना साथ–साथ कर रहा था। ऐसा वे संभवतः परिवेश को सुखकर बनाने के लिए और जीवन को सहनीय बनाने के लिए आवश्यक थे। विज्ञान के द्वारा संभव हुई शहरी क्रान्ति का दुरुपयोग अंधविश्वास ने किया। किसानों और कामगारों की उपलब्धि का असली लाभ पुरोहितों और राजाओं ने उठाया। अतः विज्ञान की जगह जादू को गद्दीनशीन किया गया और उसे ही सत्ता सौंपी गई। मनुष्य ने अंधविश्वासों का और शोषण की संस्थाओं का वैसे ही निर्माण किया, जैसे कि उसने विज्ञान का और उत्पादन के औजारों का निर्माण किया। दोनों के द्वारा वह स्वयं को अभिव्यक्त कर रहा था, स्वयं को खोज रहा था, स्वयं को रच रहा था।''

संक्षेप में; यदि इस द्वन्द्वात्मकता के बारे में निष्कर्ष निकाला जाए तो यही लगता है कि समाज की सृष्टि के साथ ही मानव अपने ही बीच खाई खींचता रहा तथा उसका उपयोग, दुरुपयोग भी करता रहा, जिससे कभी पूँजीवाद पनपा, तो कभी शोषक और शोषित का सम्प्रत्यय आया। दरअसल इस पूरे द्वन्द्व को समझने में जिस चिंतन और बुद्धि का उपयोग किया गया उसी को समझने में इन पुरोधाओं ने भूल की। इसका रास्ता भौतिकवाद से कभी नहीं तलाशा जा सकता। उसके लिए अपनी सोच की दिशा फिर से निर्धारित करनी होगी अन्यथा वर्ग रहित समाज की स्थापना के लिए पता नहीं कब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी और तब तक पता नहीं पूँजीवाद किन–किन रूपों में समाज में पनपता रहेगा। आज का भूमंडलीकरण और मुक्त बाजार की व्यवस्था क्या वर्ग रहित समाज के आने की पूर्व सूचना है?

सतत विकास की सामाजिक सहमति

सतत, विकास, जैसा कि मैंने शुरू में ही लिखा है कि यह विकास की परिणामी दशा के गर्भ से उपजा एक सम्प्रत्यय है। इस कड़ी में मैं चाहता हूँ कि विकास की द्वैत विभाजित मानसिकता का समाधान ढूँढते हुए इसके सामाजिक सहमति के स्वर की पृष्ठभूमि को तलाशा जाय। इसकी पृष्ठभमि के रूप में कुछ टिप्पणियों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

- मनुष्यता आज आत्मनिर्वासन के उस चरम बिन्दु पर पहुँच गयी जहाँ वह अपने विनाश को पहले दर्जे के सौन्दर्यमूलक आनन्द के रूप में देख सकती है (वाल्टर बेन्जामिन)।
- लगता है कि टीन कनस्तर और इसी तरह की ढेर सामग्री से भरे अँधेरे बन्द कमरे में राह ढूँढने की कोशिश कर रहा है और चलने की हर कोशिश टीन और कनस्तर की खड़खड़ाहट ही पैदा करती है–एक अर्थहीन बेसुरा शोर। ढांढस है तो बस इस बात का कि कोई चल रहा है–चल तो रहा है (राजनीतिक विचारक आर.के. मणि त्रिपाठी)।
- झूठे साबित हुये या न पाये जा सके आदर्शों की एक बड़ी श्रृंखला को अपने पीछे छोड़ विकास का तिलिस्म टूट चुका है । विकास के क्लासिकी अभिकल्प के टूटने से गम्भीरता पूर्वक पुनर्विचार और विकल्पों की खोज आवश्यक हो गयी है (प्रो. एस.सी. दुबे)।
- प्रकृति पर स्थापित वास्तविक स्वामित्व के आधार पर मानवीय सत्ता की संभावित अनंत समृद्धि का आश्वासन देने के स्थान पर क्या वह मनुष्य को उसकी अन्तिम यात्रा का अंक खेलने की प्रेरणा दे रहा है? क्या मनुष्य विज्ञान के इस सर्वशक्तिमान प्रयाण के बाद जीवित रहेगा? यदि विज्ञान के विकास का आन्तरिक तर्क उसके लिए इसी दिशा में सतत कार्य करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं छोड़ता और यदि स्वयं वैज्ञानिक विराट विध्वंस के भयावह खेल के एक असहाय उपकरण मात्र हैं तब तो फिर हम भविष्य में, जो बहुत दूर भी नहीं है, महाविध्वंस की प्रतीक्षा के अतिरिक्त और कर ही क्या सकते हैं (डी. पी. चट्टोपाध्याय)।

उपरोक्त टिप्पणियाँ आज के विकास के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं। यदि इन पर ध्यान से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि ऐसे बहुत से विद्वान और चिंतक हैं जो विकास के भावी परिणाम से चिन्तित हैं। ऐसे विकास की जो भावी आशंकाएँ व्यक्त की गई हें उससे सकारात्मक परिवर्तन की उम्मीदें कम तथा विनाशात्मक परिवर्तन की सम्भावनाएँ अधिक दिखायी दे रही हैं। इन्हीं आशंकाओं और चिंताओं के चलते विश्व में विकास को लेकर पुनर्विचार होना शुरू हुआ है।चूँकि यहाँ पर समाज–विज्ञान से सम्बन्धित पहलू को ही छूने का प्रयास किया गया है, इसलिए सामाजिक सहमति के साथ विकास को स्पष्ट करने की कोशिश हो रही है।

सतत विकास का सीधा और सरल अर्थ है ''वह विकास जो चलता हो तथा जिसमें टिकाऊपन की प्रवृत्ति दिखती हो, जिस पर सभी का समान अधिकार हो।'' आज विकास के लिए जिस सामग्री का उपयोग हो रहा है, और जिनके लिए हो रखा है, उसकी बिना परीक्षा किए हम उनका उपयोग कर रहे हैं। इसका भविष्य है अथवा नहीं। हमें ये सामग्रियाँ भविष्य में मिल पायेंगी या नहीं? जिन सामग्रियों का सीमित भविष्य है, उनके उपयोग का अनुपात क्या होगा?

ब्रुण्टलैण्ड की रिपोर्ट ''आवर कामन फ्यूचर'' के प्रकाशित होने के विकास की चिंतायें और बलवती हो उठीं। हालांकि मौरिस स्ट्रांग और आईसेक्स (1970) के 'इको–डेवलपमेंट' के सम्प्रत्यय ने ही पर्यावरणविदों की आँखें खोल दी थीं।

उपरोक्त तथ्यों की यदि विवेचना की जाय तो इससे सिर्फ यही अर्थ निकलता है कि अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखते हुए खर्च की योजना का निर्धारण कीजिए। लगता है विकास की योजनाओं की कमियों को छिपाने की नियति से इस प्रकार के सम्प्रत्यय को रचने की कोशिश की गई अन्यथा भारत के लिए तो इसकी कोई प्रासंगिकता ही नहीं थी।

विकास, सतत विकास, सामाजिक सहमत्ति के अभाव में नहीं उतर पायेगा। इसलिए आवश्यक है कि विकास की धारा में सामाजिक बिन्दुओं को समाहित किया जाय। इसके लिए कुछ ठोस योजनाएँ बनानी होंगी। व्यक्ति केन्द्रित विकास की अवधारणा को तोड़ बड़े समुदाय (जिसमें गरीब आते हैं) को विकास का मुख्य केन्द्र माना जाय। सामाजिक प्रगति का सतत मूल्यांकन होता रहे तथा उससे उद्भूत होने वाली नई–प्रवृत्तियों को भी साथ–साथ समझा जाय। वर्तमान में कार्यरत सामाजिक संरचनाओं की प्रासंगिकता का समयानुसार मूल्यांकन किया जाय तथा उन्हें और कारगर तथा जवाब–देह बनाया जाय। स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका को भी फिर से जाँचने की आवश्यकता है अन्यथा काफी अन्तराल के बाद ये सफेद हाथी के रूप में प्रत्यक्षीकृत होंगे।

उपरोक्त वर्णित सामाजिक विकास की गति और दिशा का संघर्ष ही सामाजिक विकास की द्वन्द्वात्मकता है, जो नये समाज का सृजन करता है। यह कोई नया तथ्य न होकर सांख्य दर्शन के द्वैतवाद तत्वों की नकल है। सांख्य में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि गुणों (सत्व, रज और तम) की साम्यावस्था ही प्रकृति है

और इसमें विषमावस्था के कारण ही सृष्टि का निर्माण होता है। अतः सामाजिक विकास की द्वन्द्वात्मकता ही समाज का सृजन करती है। अन्तर है तो सिर्फ प्रकृति के कार्य को हाथ में लेकर सामाजिक विकास के पुरोधा क्रान्ति के बल पर समाज को एक नई दिशा देने का संकल्प लेते हैं। मगर यह तब तक सच होता दिखाई नहीं दे रहा है जब तक हम अद्वैत या एकात्म मानवता वाद को समझने का प्रयास नहीं करते। आज की आवश्यकता विश्व–बंधुता की है, समरसता की है, परस्परपूरकता की है इसी से सतत विकास की अवधारणा को स्थिरता मिल सकेगी तथा इस स्थिरीकृत विकल्प के साथ सतत विकास का सपना पूरा हो सकेगा।

निष्कर्ष

सामाजिक विकास एक दीर्घ प्रक्रिया है।यह व्यक्ति और समाज के अंतरक्रिया के फलस्वरूप फलीभूत होता है। सामाजिक विकास की जड़े अत्यंत फैली होती हैं जिनमे धर्म,वर्ण, जाति,संस्कृति और संस्कार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।इनमें से एक के प्रभावित होने से अन्य तत्व भी प्रभावित होने लगते हैं।पर्व और तिथियां भी अपना प्रभाव डालती हैं। क्षेत्रवाद और भाषाई समानता या विषमता भी इसे अपने तरीके से चलाने का कार्य करते हैं।यदि हम गुणवत्ता पर ध्यान नहीं देंगे और येन केन प्रकारेंन आवश्यकताओं की क्षणिक पूर्ति करते रहे तो विकास का लक्ष्य हासिल नहीं हो सकता।सांस्कृतिक तत्वों के बीच समरसता का भाव भरना होगा।प्रतिस्पर्धा जगाकर हम युगानुकुल पुनर्रचना नही कर सकते। हमें हर कीमत पर सामूहिकता और आपसी सहयोग को कायम करना ही होगा। सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पुनःवितरण की संस्थागत संरचना का निर्माण करना होगा। इनके अलावा बहुत से ऐसे कारक हैं जिन पर तत्काल ध्यान देने की जरूरत है।इनमे बाल श्रम,महिला उन्नयन,नशा पर बढ़ती आश्रित ता,दूरदर्शन के चौनलों से परोसे जाने वाली अश्लीलता ,नारियों के स्वतंत्रता के नाम परभौड़े विज्ञापन प्रचार प्रसार को भी नियंत्रित करने की जरूरत है। इनसे सामाजिक असहमति के स्वर उभड़े हैं।भविष्य के दिशा निर्देशों को भी समझने की आवश्यकता है।

द्वंद्वात्मकता तभी जन्म लेती है जब या तो ग्राह्य ग्राहय अंतर्द्वंद्व पनप जाय या ग्राहय त्याज्य द्वंद्व की स्थिति निर्मित हो जाय।जब समाज के कुछ लोग आधुनिकता या नवीन विचारधारा को अपना लेते हैं और कुछ लोग पुरानी परंपराओं से चिपके रहते हैं। सामाजिक विकास का स्वरूप जो द्वंद्वमय स्थिति से शुरू होता हैऔर उसी स्थिति में आकर उलझ जाता है।मानव और समाज सिर्फ भौतिक उत्पाद नही हैं। भौतिक उत्पाद मानने पर इसको इसको किसी निश्चित लक्ष्य तक नहीं पहुंचाया जा सकता।इसीलिए आज आवश्यकता है कि मानव और समाज की तरफ मुंह किया जाय। लक्ष्य इनको माना जाय न कि लक्ष्य इनके भविष्य को निर्धारित करे।

सामाजिक विकास में असहमति के स्वर उभरते हैं। लेकिन जब आध्यात्मिक भौतिक और सहयोगात्मक तत्वों का सामंजस्य बैठता है तो चीजें रेखीय हो जाती हैं और वे कल्याणकारी बन जाती हैं।किसी मॉडल को थोप देने से वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं होता अपितु वह आलोचना का केंद्रीय तत्व बन जाता हैं।वह विकास अरेखीय होकर समाज पर उल्टा प्रहार करता है और समाज दिशाहीन और धुरी हीन बन जाता है।आज समाज कट्टरता का पर्याय बन चुका है।समावेशी विकास समय की जरूरत है। हमें उधर बिना बिलंब किए लौटना होगा।मानवीय कल्याण इसी से मूर्त रूप ले सकेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. एल.एच. र्मान (http:/www.jpppgcollege)
2. मौरिस स्ट्रांग एवं आईसेक (1970). (http:/www.en.m.wikipedia.org)
3. ब्रण्टलैंड (1987). आवर कामन फ्यूचर, ब्रण्टलैंड कमीशन.
4. मिश्रा, एन.एल. (2000). विकास की चुनौतियाँ, शर्मा प्रकाशन, आगरा.
5. दुबे, एस.सी. (1999). विकास का समाजशास्त्र, वाणी प्रकाशन, दिल्ली.
6. चट्टोपाध्याय, डी.पी. (1992). दशर्नशास्त्र और भविष्य, राजकमल प्रकाशन.
7. अग्रवाल, पुरुषोत्तम (1997) संस्कृतिरूवर्चस्व और प्रतिरोध,राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली।
8. करपात्री जी (1980) मार्क्सवाद एवम रामराज्य,गीता प्रेस गोरखपुर।
9. गांधी,मोहन दास करमचंद (1969) मेरे सपनो का भारत,नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद।
10. चक्रवर्ती, एस (1980) एस्पेक्ट्स ऑफ इंडियाज डेवलपमेंट स्ट्रेटजीज,इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली मई 19..26।
11. जोशी पी सी (1986) अवधारणाओं का संकट,राजकमल प्रकाशन, न्यू दिल्ली।
12. त्रिपाठी, आर के एम (1996) रीडिंग मैटेरियल्सरू ए कलेक्शन ऑफ पेपर्स एकेडमिक स्टाफ कॉलेज गोरखपुर,देसाई ए आररूसोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियानिज्म,बांबे पॉपुलर प्रकाशन1982।
13. दुबे एस सी (1996) समय एवम संस्कृति,वाणी प्रकाशन दिल्ली।
14. नारायण,जयप्रकाश (1973) समाजवाद, सर्वोदय, और लोकतंत्र, पटना, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी।
15. पचौरी, सुधीश (1996) रीडिंग मैटेरियल्सरू ए कलेक्शन ऑफ पेपर्स, ए के स्टाफ कॉलेज गोरखपुर।
16. पारेख जबरीमल (1998) संस्कृति और समीक्षा के सवाल,राधा पब्लिकेशन नई दिल्ली।
17. मार्क्स एवम एंजिल्स (1974) जर्मन आइडिया लॉजी,न्यूयार्क।